राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर
के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

कविता प्रकाशन, बीकानेर

धूप क्यों छेड़ती है
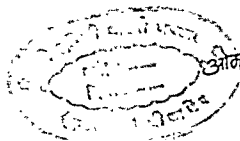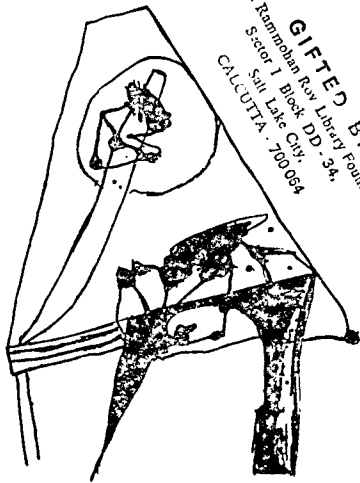
ओम पुरोहित 'कागद'

प्रकाशक : कविता प्रकाशन,
तेलीवाड़ा, बीकानेर

संस्करण : प्रथम, 1986

मूल्य . तीस रुपये मात्र

आवरण : हरिप्रकाश त्यागी

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर

DHOOP KYON CHHEDTI HAI (Poetry) by Om Purohit KAGAD
Rs.30/-

माँ

श्रीमती पद्मादेवी पुरोहित

एवम्

पिता

श्री द्विजराज पुरोहित

के

चरणों में

वहाने

मेरे विचार मे कविता लिखना घड़ा बनाने, गोबर थापने, चूल्हा जलाने, धोंकनी में हवा भरने, लोहा कूटने, रिक्शा चलाने, बोझा ढोने या इंजन में कोयला झोंकने से न तो कठिन है और न पवित्र। कवि अपनी कविता में चाहे जितने काव्य-गुणों को भर दे; वह मजदूर की तरह किसी का पेट नही भर सकता। मजदूर शोषण को समर्पित है। उसके पास अपने शोषक को सुनाने के लिए फटे कंठ और दिखाने के लिए ढीली नाड़ियो वाली तनी मुट्ठियों के अतिरिक्त क्या है? कवि ततैया है। उसके पास कलम का डंक है। वस्तुतः "लोकरचित दबाव" उसके रचनाकार के समक्ष नही ठहरते। ऐड़ी से चोटी तक पसीने में भीगे मजदूर का श्रम कविकर्म से बहुत ऊपर तथा श्रेष्ठ है——मैं तो सौ जन्म तक इस को मान दूंगा।

कविता अपने समकालीन जीवन-स्तर, स्थिति तथा लोकाचरण का प्रतिबिम्ब होती है। ऐसे में कवि का दायित्व एक न्यायाधीश और इतिहासकार से कम नही होता, क्योंकि, तीनों का कर्म साक्षात, साक्षी और यथार्थ पर आधारित होता है। समकालीन यथार्थ का रूपांकन न करने वाली और विशिष्ट कलात्मक आशयों का निर्वाह करने वाली कविता सूनी गोद वाली रूपवती बांझ औरत के समान होती है। कजरा, गजरा, भौंहो, बांहों, कमर या रेशमी बालो मे अटकी कविता की तो इस समय कतई जरूरत नही है। ऐसी कविताओं को कविता कहना, कविता का मजाक करना है।

कविता की कला कविता मे ही निहित है कविता से केवल और केवल कला की अपेक्षा करना उसके अन्तर से, परिवेश से और मूल

संवेदन से विलग कर देखना है । रोटी चाहे किसी आटे की हो, किसी भी चूल्हे पर पकी हो या किसी भी बर्तन में पडी हो———उस में भूख शांत करने की क्षमता होनी चाहिए । यही रोटी का विशिष्ट लक्षण है । ठीक यही कविता पर लागू होता है ।

कविता की भाषा जन साधारण के बोल-चाल की हो तो उसमे अधिक स्वभाविकता आ जाती है । रूढ भाषा का दबाव कविता को तिलस्म के शिकजे मे कस लेता है । इस से भावो एवम् सवेदन की सम्प्रेषणीयता बहुत पीछे छूट जाती है या यू कहिये—मर जाती है ।

परम्परागत शब्दो को तोडकर नए स्वरूप देने का प्रयास भाषा के साथ बलात्कार से कम नही है । एक भाषा/आंचलिक भाषा का शब्द दूसरी भाषा मे मेहमान के रूप मे चला जाए तो यह भाषागत एकता के लिए सुखद ही है । इस एकता मे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकता की कल्पना बेमानी नही है ।

मेरा यह कविता-सकलन मेरे लेखन-जीवन यानी डेढ़ दशक के अन्तिम दौर मे रची गई कविताओ का तलपट है । इस संग्रह की कविताएं मेरी निजी भाषा मे हैं । मैंने अपने मूल संवेदन की अभिव्यक्ति के समक्ष कलम को भाषा, शिल्प एवम् अन्य कलात्मक विशेषताओं का गुलाम नही बनने दिया । मैं अपने प्रयासो मे कहां तक सफल हूं । यह तो सुधी पाठक ही बता सकेंगे । उनके मूल्याकन से जहा मुझे मेरे कमजोर पक्ष का ज्ञान होगा, वही रचना का मेरा मार्ग प्रशस्त होगा ।

अन्त में—

इस पुस्तक को प्रकाश मे लाने मे श्री हरीश भादानी, श्री जनकराज पारीक, श्री मोहन आलोक, श्री महेश हर्ष व श्री सुनील हर्ष ने अपनी अमूल्य राय एवम् जो सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनका आभारी हूं । साथ ही भांजे राहुल हर्ष, चचेरी बहिन सरोज पुरोहित एवम् पवन पुरोहित का विशेष आभारी हूं, जिन्होने पाडुलिपि बनाने मे मेरी रात-दिन सहायता की ।

5-2-1985

24-दुर्गा कॉलोनी
हनुमानगढ सगम–335512
जिला-श्रीगगानगर (राजस्थान)

–ओम पुरोहित "कागद"

उपोद्घात

मैं इस कविता-पुस्तक का पहला पाठक हूँ। इससे पूर्व मैं श्री "कागद" के रचनाकार से कभी परिचित नही रहा, इसे मैं अपनी अल्पज्ञता ही मानता हूँ। पहले वाचन मे मुझे एक खास प्रकार का कसैलापन हाथ लगा, यह कही उम्र के कारण तो नही, दूसरा वाचन धीरज से किया और खास प्रकार के कसैलेपन के मूल कारण तक पहुचने का यत्न किया।

इस यत्न मे "सूरज पचा लेता हूँ" "धूप क्यों छेडती है मुझे" और "मेरा आँगन" कविताओ को एक अर्थ मे देखता हुआ, मैं रचनाकार श्री "कागद" के व्यक्तित्व से परिचित होता हूँ। इस परिचय मे मुझे विश्वास हो जाता है कि रचनाकार को अपने व्यक्तित्व और परिवेश का पूरा-पूरा अहसास है। वह अपने परिवेश का पर्यवेक्षक नही है, उसके एक-एक क्षण का भोक्ता है। भोक्ता को जो दुःख-सुख होते है—वे इस व्यक्ति के भी हैं जिनसे वह तिलमिलाया है, यह कि 'हँसने' का बहाना भी किया है। उसका यह हँसने का बहाना भी सवा सेर दुःख जैसा है। ऐसे परिवेश मे जीने की स्थिति का उगलाव की हद पार करना ही रचना के धरातल पर आ टिकना है।

रचना के धरातल पर आकर ओमजी ने अपने और अपने परिवेश को अपनी 'दहलीज' को छूकर लौट गई सडक के दोनो ओर के व्यापक परिवेश से जोड़ने का यत्न किया है। रचना के यत्न की इस प्रक्रिया मे उनका खास कसैलापन फैलता गया है, उन्होने इसे नही फैलाया है। वह सडक पर सर्वत्र है, इस रचनाकार ने तो इसे अपने शब्द भर दिए हैं।

रचना करने का अर्थ अपने दुखो और तनावों से हकलाना नही है, अपने निकट-दूर के यथार्थ को पहचानना—पहचानते रहना है, लगातार

पहचानते रहने के परिणाम–रचना के माध्यम से, अपने यथार्थ से अपने सरोकार को व्यापक बनाते रहना है। रचना के माध्यम से अपने इस सरोकार को बारीक और व्यापक बनाने का सबसे बड़ा सुख यह रचनाकार के व्यक्ति का अपने दुःख और तनाव 'सारे जहां से भारी' नही लगता। वह अपने अकेले होने का अहसास रखता हुआ भी, अपनी पूरी सम्पूर्णता मे अपने आप को अपने परिवेश मे ही पाता है। वैसा ही पाता है। मेरे सोच में इन कविताओ का एक सुखद पहलू यह है कि यहां मिलता कसैलापन एक अकेले की नितान्त घुटन नही है। निम्न पंक्तियो के सहारे ओमजी अपने मैं का और अपने 'निजी परिवेश' का अतिक्रमण कर बड़े यथार्थ का हिस्सा बने हैं– इन पंक्तियों में आया 'मैं' और 'वह' एक 'हम' का अर्थ देते हैं—

- पत्थरो के शहर मे—"पत्थर की आंख के लिए मारा गया/बस *इतना सा अपवाद है/वरना यहां पूरा समाजवाद है*" "
- रेत का जाया मैं—"न मुझे हम बनने दिया / और न मैं रहने दिया ..."
- आ ऋतुराज—"बाप की खाली अंटी पर आंसू टळकाती...."
- मैं देशद्रोही नही हूँ—"भले ही मैं राष्ट्रीय ध्वज पहन लेता हूँ/ क्योकि मैं नगा हूँ / राष्ट्रीय गीत पर खड़ा नही होता क्योकि" "
- मेरा गाव—"बिजली खम्भों के बजाय आकाशमार्ग से आती है ...."
- मेरा शहर—"भूख का भाई और भूखे का दुश्मन मेरा शहर....", मुर्गे की टांग पर बिक जाता है मेरा शहर....", गीता पर हाथ धर कर हकलाता है लेकिन स्काच पीकर हर गुत्थी खोल जाता है मेरा शहर...."

इस तरह की अनेक पंक्तिया हैं जो गाव और शहर के जीवन को रूपायित करती हैं। ये रूपांकन केवल बाहर को ही, इस बाहर में पाठक के होने को भी दर्शाते हैं, कही-कही दर्शाव अधिक खुला और अधिक तीखा भी हो जाता है–आचलिक शब्दो के कारण। परिवेश को निपट भाषाओ के साथ व्यक्त करना रचना और रचनाकार दोनो के लिए सुखद है–इस तरह के शब्दो के सहारे रचना, केवल अर्थ नही अपने पूरे आवेग के साथ, सम्प्रेषित होती है।

रचनात्मक धरातल, संवेदन, परिवेश को देख-जीकर निर्मम होकर व्यक्त करने का अभ्यास और भाषा''' आदि-आदि उपलब्धियों को स्वीकारते हुए इन कविताओं के वाचन के बाद एक समग्र अर्थ लेने के अपने प्रयत्न मे मुझे लगा है कि ओमजी का आवेग चल नही, लगभग दौड़ रहा है। दौड़ते रहने में कही आधा अनुभव पीछे छूट गया है तो कही फुटपाथिया शरीर के हाथो मे मलमल जैसे शब्द का टुकड़ा आ फसा है । इस तरह के रूपो से गुजरते हुए पाठक की लय टूटती है– इसका एक अर्थ यह कि कही न कही कविता की भी लय टूटी है ।

जहा तक मैं जानता हूँ, यह किताब उनकी रचना-यात्रा का पहला तलपट है, इस कारण इस तरह का लय-भग असहज भी नही पर मैं इन रचनाओं का पाठक हूँ, मुझे जो लगे, उसे कहना चाहिए । उचित लगे तो रचनाकार अपने पहले पाठक की इस धारणा पर विचार करे ।

अपनी बात स्पष्ट करूं—लय से मेरा अर्थ छद से नहीं हैं । छदीय कविता मे भी लय का निर्वाह नही हो पाता । फिर इस किताब मे तो छद के शरीर वाली कविता ही नही है । सीधी सी बात है– लय के बारे मे मैं छद से हटकर निवेदन करना चाहता हूँ–वह यह कि यकसा शरीर वाले शब्दो के बीच कोई 'परदेशिया' शब्द आ धँसता है तब कविता की भाषा की लय के साथ कविता के अर्थ की लय भी टूटी सी लगती है । यह 'परदेशी' शब्द होता तो अपने ही व्यापक परिवेश का–पर जिस जैवी-स्तर को हम जी रहे होते हैं, उसका नही होता, हमे अपना होना बनाए रखने वाली व्यवस्था के किसी अंग का होता है । इस सोच के साथ यह भी कहना चाहता हूँ कि इन रचनाओ मे ओमजी मात्र शाब्दिक कारीगरी से बचे हुए रहे है । आशा है, मेरे इन शब्दों को ओमजी का व्यक्ति और उनका रचनाकार अपनत्व की सीमा मे लेंगे ।

अधिक सुखद होता कि इस किताब के पहले पाठक के इस 'उपोद्घात' से पहले यह पाठक और रचनाकार 'अरूभरू' होते– इन रचनाओं के सहारे सवाद करते '''रू-ब-रू' संवाद की प्रतीक्षा मे

–हरीश भादानी

23 अप्रेल, 1985
[छबीली घाटी, बीकानेर-334001

सिलसिला

धूप क्यों छेड़ती है

मै देशद्रोही नही हूं

मैं मानता हूं
मैं स्वतन्त्र भारत की देह पर फोडा हूं,
लेकिन मैं अजेय नही हूं।
बस, अपने भीतर दर्द रखता हूं,
इसीलिए अछूत हूं,
दोषी हूं।
मैं अक्षम नही हूं,
भूखा हूं।
भले ही आपने मुझ पर–
'गरीबी की रेखा' पटक कर,
छुपाने का असफल प्रयास किया है।
फिर भी मै
तुम्हारे लिए भय हूं,
कि, कोई दबा पड़ा है।
सामने न सही
अपने ही मस्तिष्क में,
मुझ से हाथ मिलाते हो तुम।

मैं देशद्रोही नहीं हूं ;
भले ही मैं,
राष्ट्रीय ध्वज पहन लेता हूं ।
क्यों कि, मैं नंगा हूं ।

मैं देशद्रोही नहीं हूं ;
चाहे मैं–
राष्ट्रीय गीत पर खड़ा नहीं होता,
क्यों कि, मैं
फावड़ा थामे कढाई पर झुका हूं,
और पीठ पर समय
भूख के चाबुक लिए खड़ा है ।

मैं बे-बस हूं ।
तभी तो–
मैं अपना श्रम बेचता हूं ।
मैं अपने ही शोषण में मस्त हूं ।
मैं न्याय क्या मांगू ?
न्याय संविधान में छुपा है ।
मेरी पीठ कमजोर है ।
संविधान को ढो कर
अपने गाव नही ला सकता ।

मैं निराशावादी हूं ।
तभी तो–
मैंनें अपनी अंगुली,
तुम्हारे मुह में दे रखी है,
खून चूसने के लिए ।

मैं इंसान नहीं हूं ;
वोट हूं ।
तभी तो–
आश्वासनों पर लुढ़कता हूं ।
पेटी में बंद हो,
पांच साल तक––
शांत पड़ा रहता हूं ।

मैं माँ हूं !
तभी तो सह लेता हूं,
जमाने भर के कष्ट
तुम्हारी खुशी के लिए ।

आ, ऋतुराज !

पेड़ों की नगी टहनिया देख.
तू क्यो लाया
हरित पल्लव
वासंती परिधान ?

अपने कुल,
अपने वर्ग का मोह त्याग,
आ, ऋतुराज !
विदाउट ड्रेस
मुर्गा वने
पीरिये के रामले को
सजा मुक्त कर दे ।
पहिना दे भले ही
परित्यक्त,
पतझड़ियां,
वासो परिधान ।

क्यों लगाता है लताओं को
पेड़ों के सान्निध्य में ?
क्यों अपने हाथों से
उनको आलिगनबद्ध करता है ।
अहंकार मे
आकाश की तरफ तनी
लताओं के भाल को
रक्तिम बिन्दिया लगा,
क्यों नवोढ़ा सी सजाता है ?

आ, ऋतुराज !
बाप की खाली अटी पर
आसू टळकाती,
सुरजी की अधबूढी बिमली के
वस,
हाथ पीले कर दे ।
पहिनादे भले ही
धानी सा एक सुहाग जोड़ा ।

तू कहां है—
डोलती वयार में,
सूरज की किरणों में ?
कब आता है ?
कब सजाता है
विशाल प्रकृति को ?
लेकिन तू आता है
आधीरात के चोर सा ;
यह शाश्वत सत्य है ।

तेरी इस चोर प्रवृति पर
मुझे कोई ऐतराज नही,

पर चाहता हूं ;
थोड़ा ही सही
आ, ऋतुराज
खाली होने के कारण,
आगे झुकते
नत्थू के पेट में कुछ भर दे ।
भर दे भले ही,
रात के सन्नाटे में
पत्थर का परोसा ।

रेत का जाया मैं

धोरों पर जब भी पसरा हूं,
सूरज ने सताया,
आंधी ने उड़ाया है।
जब भी कभी मुझे,
बूंद भर पानी मिला
मेरा रोम-रोम फाड़ कर
उस बूंद को तलाशा है गया।
शान्त जमीन पर सोये
मेरे ऊष्ण उदर में,
एक से अनेक की चाहना के साथ
बीज डाल
जुआ खेला गया।
मेरा पेट फाड़
वे बीज अंकुरित हुए,
उनके पेट की क्षुधा मिटाने।
पानी डाला,
खाद डालो,

रक्षा की ।
लेकिन जब पौधा फल लाया ;
पानी नहीं,
खाद नहीं,
रक्षा नहीं !

एक बार फिर
मैं उस पौधे के साथ
मैदान में आ गया,
मसला गया,
कूटा-पीटा गया,
और पुनः
पुरवा में
उड़ा दिया गया ।

जब भी
उनकी आकांक्षाएं,
मेरे उदर की ऊष्णता में
नेस्तनाबूद हो गईं तो–
मुझे थार की संज्ञा दे
नकार दिया गया ।

जब भी कभी मैंने
किसी के सीने से लग कर
हंसना
रोना चाहा
फटे कपड़े की तरह,
झटक कर झाड़ दिया गया ।

जब-जब भी मैं
परहितार्थ पसरा हूं

लोगों ने
जांचा,
परखा
और
स्वार्थसिद्धि हेतु दण्डवत् समझ
दुत्कार दिया

न मेरा—
स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारा गया
और न सह-अस्तित्व।
न मुझे
'हम' बनने दिया
और न 'मैं' रहने दिया
रेत का जाया रेत था,
बस,
रेत ही रहने दिया।

पत्थरों के शहर में

वो जो दूर पहाड़ी पर
बड़ा सा मन्दिर है
उसका देवता
अपनी बेजान दृष्टि के लिए
हीरे की आंखे रखता है
पत्थर के ठोस पेट के लिए
हजारों मन चढावा लेता है
फिर भी भूखा सोता है ।

चांदी का छत्तर,
बिजली का पंखा,
चन्दन की खड़ाऊ,
रत्न जड़ित रक्त वस्त्र,
सचिव सा पुजारी धारण कर
ऐंठा रहता है
किसी चोर द्वारा कुरेदी गई

अपनी आंख
सप्ताह भर में
वैसा ही पा लेता है ।

उधर उन पांच कोठियों के पीछे,
कीचड़ के गड्ढों के पास
कूड़े के ढेर पर,
जो टाट व सरकण्डे की झौंपड़ी है,
उसमें सजीव किसनू रहता है ।
आँख में आंसू,

पेट में भूख,
नंगे पांव,
चूती हुई छत,
आंधी के झौके सह लेता है ।
उसका नत्थू ;
आक को छेड़ते हुए अंधा हो लिया
डाक्टर के यहां
रोज़ाना लाइन में खड़ा हो
उम्र भर की कमाई खो
पत्थर की आंख भी नहीं ला पाया ।
मांगने पर भी दुत्कारा गया ।
पत्थरों के शहर में,
पत्थर की आंख के लिए मारा गया ।
बस इतना सा अपवाद है,
वरना यहां पूरा समाजवाद है ।

अधर जीवन

जब भी मैं,
सोच के तालाब में,
स्मृति का पत्थर फेंकता हूं।
लहरें खाता दुःख,
हृदय के किनारे आ लगता है,
....और मैं उस में
पंजो,
घुटनों,
कमर,
सीने तक उतरता चला जाता हूं।
मेरे अस्तित्व,
मेरे जीवित होने का प्रमाण,
मेरी आंखे
सब लहरों मे खो जाते है।
तब मेरा जीवट
जीवन्मृत हो
जीविका के लिए जुट पड़ता है;

दिन भर की मेहनत के बाद पाता है,
एक अनोखी सोच का सेला !
जो अपनी नुकीली नोक के—
भय के आगे नचाता है ।
··· और फिर एक दिन
छोड़ आता है
किसी पसरे हुए
तथा,
भागते हुए लोहे के बीच ।
लेकिन, तभी समय आता है,
दांत किटकिटाता ।
मुझे यह आभास तक नही रहता, कि
यह मेरा घालक है या पालक ।
दबाव में आकर
मैं समझौता कर लेता हूं ।
रात गुजर जाती है,
घर के ही पलंग पर ।

सुबह—
मां,
बाप,
भाई,
बहिन,
बीवी,
पडौसी,
मित्र,
एक ही स्वर मे बोलते है ;
यदि बेचारा
निरूढ़
निपूता होता, तो आज
कल की बात होता
लेकिन यह,

जीने की कला जान गया,
छल के बल,
उम्र काट देगा, पोच !

मेरा सोच
जीवन्मुक्त होने के लिए
छटपटाने लगता है ।
.......और गिर पड़ती है
मेरे पैरों के बीच स्मृति ।
..........फटक..........
आवाज के साथ ही,
तन्द्रा भंग होती है,
तब मैं
एक ही झटके से उसे उठा कर,
आंख मीच कर,
भविष्य के अंध कूप में फेंक देता हूं ।

तब मुझे सिखाता है समय ;
कमर के बल चलना
आंख के बल खाना
हाथ के बल बोलना
मुंह से आरती गाना ।
जो देता है—रोटी ।

क्या एक रोटी के लिए,
आत्मा का अपराधी बनूं,
आंख मूंद कर,
हाथ फैला कर
कूद पड़ूं
इस दूसरे गर्त में ?
.......और इसी तरह सीख लूं जीना ?

निराला के नाम

रे निराला !
क्यों तूने उस पगडंडी को चुना,
जो अजगर के मुंह में खत्म होती है ?
क्यों तू ने बुना,
भविष्य का एक सुखद सपना
उस दिशाहीन समाज के लिए,
जो अपने ही स्वार्थ में घिरा
अंधकूप में गिरा जा रहा था ।
क्यों तूने अपनी उम्र के अनमोल दिन,
गूंगी,
बहरी,
और अहसान फरामोश पीढ़ी को
संवारने में गंवा दिए ?
जिसने तुझे,
रोटी और लंगोटी तक के लिए
तरसा कर रख दिया ।

रे निराला !
क्यों रची कविताएं,
भुस भरे दिमागों के लिए ?
वे कविताएं जिनको लिखने में तूने
आंख की जोत,
अंगुलियों के पोर
आखा जन्म ही गंवा दिया ।
कौन संजो कर रखेगा ?
शायद, दीमक को तरस आये ।
वो भेज देगी तुम तक
तुम्हारी कृतिया ।
निश्चेत,
निश्चित,
सो मत जाना ;
बाट देखना ।
तूने शब्द-शब्द लिखा था ;
वर्ण-वर्ण सम्भाल लेना ।

पहाड़ वन जाएं

जव भी मैं सोचता हूं,
तव कई प्रश्न चिन्ह,
साक्षात मेरे चारों ओर
ताण्डवनृत्य करते है।
और फिर मस्तिष्क में
कई प्रश्नचिन्ह और खड़े हो जाते है।
प्रश्न से प्रश्न,
कभी नही लड़ते !
एक के वाद एक
मिल कर,
मेरे मस्तिष्क को
खोखला कर डालते है
और फिर खुद
चैन की नीद सोते है
मेरे सामने खड़े-खड़े ;
मुझे जगा कर।

मैं उठना ही चाहता हूं,
कि, बुत सा आता है—यथार्थ ।
धीमे-धीमे चल कर
मेरे सीने पर आकर
एक टांग के बल खड़ा हो जाता है ।
मैं उसे एक टक देखता हूं,
मुझ से नजर मिलते ही,
वह ऐसा पिघलता है कि,
बस, दिल में उतर जाता है
और दिल ;
उसकी चपेट में आ पथरा जाता है
और मैं पत्थर दिल हो जाता हूं ।

•

पत्थर दिल माने; बुत !
यदि हमें अपने शोषण के बदले,
किसी के लिए कुछ कर के
बुत बनना है
या
इस बुत परस्त दुनिया में
मौत के बाद भी
बुत बन कर रहना है,
तो—
क्यों न हम,
वह पहाड़ बन जाएं,
जो पत्थर बनाते हैं ?
ओढ़ कर बर्फ की चादर,
तन कर खड़े हो जाएं
शांति की एक लम्बी लकीर बन कर ;
अपने कद से बड़े हो जाएं ।

मेरा गांव

मेरा गाव,
बुढाया सा
रेत के घोरों में
सोया पड़ा है ।

मेरा गांव,
किसी का गुलाम नहो,
यहां—
मकानों का पंक्तिबद्ध होना,
कत्तई अनिवार्य नहीं है ।
सडकें सिमटी है शहरों तक,
बिजली खम्भों की बजाय
आकाश मार्ग से आती है

बस
रेल से डरते हैं

मेरे गांव के लोग ।
नेता और अफसर की
शक्ल तक नहीं देखी
अवसर को ही,
अफसर कहते है,
मेरे गांव के लोग ।

तमतमाती धूप,
लू,
वर्षा,
आंधी,
तूफान
सभी तो होते हैं
मेरे गांव मे ।
वस,
कूलर,
फ्रिज,
टाटे,
टीवी
नही होते,
मेरे गांव में

जनहितैषी,
जनसेवी,
देशभक्त
सभी होते हैं
वस,
सफेद पोश
नही होते
मेरे गांव मे ।

मेरा शहर

अंधेरी रात
और
अंगारा सा दिन
ढोता है,
मेरा शहर।

भूख का भाई
और
भूखे का दुश्मन है,
मेरा शहर

तड़पता है,
तड़पाता है,
न भूखा है,
न खाता है,

बस,
रात भर जग कर
सुबह सो जाता है
मेरा शहर

दिन भर दफ्तर में
घिघियाता है
और शाम को
मजदूर के अगूठे पर
स्याही बन कर चिपक जाता है,
मेरा शहर।

धर्म
ईमान
देश की कसम खाता है
लेकिन
मुर्गे की टांग पर
बिक जाता है,
मेरा शहर।

महिला कल्याण केन्द्र के—
चंदे की रसीद बुक लिए
दिन भर भटकता हुआ
रात को,
किसी कोठे पर पड़ा मिल जाता है,
मेरा शहर।

कहने को
दहेज विरोधी
आन्दोलन चलाता है
मगर

बिन दहेज की दुल्हन को
घर की चौखट पर ही
लील जाता है
मेरा शहर।

न्याय के कटघरे में
गीता पर हाथ धर हकलाता है
लेकिन
स्कॉच पी कर,
हर गुत्थी खोल जाता है
मेरा शहर।

भविष्य

दूर
बर्बर रेगिस्तान में खड़ा
बिना पत्तों का पेड़
बोझ से मुक्त टहनियाँ
अनजाने में रोंदी गई
सूख-सूख कर
झरी पत्तियां,
अस्तित्व का अहसास;
पीली पत्तियों की खड़खड़ाहट
अनिश्चय और असमञ्जस के अंधकार में
सारा का सारा
अन्तर अकुलाए।

अस्तित्व का स्वाद

प्याज के छिलकों की तरह
जीवन के दिन,
उतरते····उतरते ···
चले गये,
और मैं
भीतर की
अन्तिम पर्त मात्र रह गया हूं
फिर भी लोग,
न जाने क्यूं मुझे
अपनी आहार सामग्री में रखते हैं।
समय,
असमय
सुबह
और शाम
मेरे अस्तित्व का
स्वाद चखते है।

अस्तित्व का अहसास

तुम
खींच कर मार जाते हो
आईना-ए-दिल पर पत्थर
और पलट कर
उसके टूटने की
आवाज तक नही सुनते ।
क्यों कि, तुम्हें
मेरी नपुंसकता का
अहसास हो गया है ।

तुम
भरे बाजार,
मेरी इज्जत के बदले
अपने लिए
इज्जत खरीद लेते हो
और मैं

कुंएं से निकली डोलची की तरह
छपाक से खाली हो
दूसरी छलांग के लिए
हर पल तैयार रहता हूं,
क्योंकि मुझे
मेरी नपुंसकता का अहसास हो गया है।

एक अबला की तरह
मेरी कविता
मेरे वास्ते
दो जून रोटी के लिए
तुम्हारे आगे पसर जाती है
और तुम उसे
पृष्ठ-दर-पृष्ठ
कुतरते जाते हो,
ऐसी फंसाते हो
एक कॉलम के चौथे हिस्से में
कि, वह तुम्हारी
बस, तुम्हारी हो कर रह जाती है।
उसे भी
मेरी होने का अहसास नहीं होता
क्यों कि, उसे भी—
मेरी नपुंसकता का अहसास हो गया है।

मै सूरज पचा लेता हूं

मैं
हथेली में हर दिन
सूरज सहेज कर रखता था ।
जब भी कभी मुझे
तपिश का अहसास हुआ
या
जमाने को लगा
कि, मैं
सृष्टि की अमूल्य निधि का
अकेला सेवन कर रहा हूं ।
मै हर बार
उनकी आंख ताड़ गया
बस,
अगले ही क्षण
मैं सूरज निगल गया ।
जमाना तो खुश हुआ
मेरी सहन शक्ति

जमाना भक्ति पर
…………लेकिन सूरज !
सूरज, आज भी टपकता है
मेरी आंख से
आंसू बन कर ।

अब तो
गुण-सूत्रों तक में
ढल गया है सूरज,
तभी तो
मैं देखता हूं
कि, मेरी हर रचना,
पेट में
सूरज ले कर जन्मती है ।

मैं
सूरज पचा लेता हूं ।
इसी लिए हर रात
एक नया सूरज
अपने सीने पर रख कर सोता हूं ।
बस, यही कारण है;
मेरा हर मित्र
नातेदार
सहकर्मी
सूरज लिए खड़ा है
मेरी हथेली पर
रख देने
और मैं…!
इन असंख्य सूर्यों के बीच,
एक उपग्रह सा
ठहरा हुआ हूं;

परिक्रमण
परिभ्रमण को।
हर सूरज के
परिक्रमण
परिभ्रमण
पथ पर
तपिश–दर–तपिश
सहने को।

सभ्यता

सभ्य पद चापों से
जरा हट कर
सड़क के किनारे
किसी गंदे नाले में
अपना ही चेहरा देख कर,
कितने असभ्य हो जाते हैं हम।
अपने ही चेहरे पर
पेशाब कर
अपना ही अक्स मिटा डालते है।
अहंकार की डकार ले
उल्टे पांव
जेब में हाथ डाल
पुनः
सभ्य पद चापों में,
अपनी पदध्वनि
मिला कर हंसते है
अपने हम सफर की—

आंख में लगे कीचड़ को देख कर ।
........और कितनी शान से
मिलाते हैं हम
'वे हाथ'
मूंछो पर ताव देकर
अपने राह चलते अज़ीज से ।

धूप क्यों छेड़ती है

उन
कई-कई
मंजिलों ऊँची
कोठियों में सोये
अमीरों को छोड़ कर
धरातल पर
गढ्ढों में सोये मुझ को
धूप क्यों छेड़ती है ?
गहरी नींद सोने से पहले
क्यों जगा देती है ?

भूख !
उन अमीरों के
भर पेट खा कर
मखमल पर सोये
साहबजादों के पेट को छोड़ कर

मेरे नत्थू के पेट में आ कर
क्यों सो जाती है ?
क्यों कुदाल, फावड़ा और गेंती
मेरे अवयस्क नत्थू के हाथों में
आ थम जाते हैं ?
उनकी गोरी चमड़ी के
आवरण वाली हथेलियां
पोरों में सिगरेट व जाम
क्यों थाम लेती हैं ?

क्यों उनकी मोटी तिजोरियों में
घर बैठे ही
धन संग्रहित हो जाता है ?
मेरी फटी सी धोती की
छोटी सी अंटी
खाली क्यों रह जाती है ?
क्या धूप
छप्पर फाड़ कर 'लेना'
और
फाटक वन्द कर 'देना' चाहती है ?

दोहरी चाल प्रकृति की

मेरा और उनका घर
आमने सामने है ।
उनके यहां पैदा होने वाला
अमीर कहलवा लेता है
लेकिन
मेरे यहां तो
फिर से 'मैं' ही पैदा होता हूं;
कोई बिड़ला
क्यों नहीं पैदा होता है ?

उनके सुपुत्र
जवानी से पहले ही
ऐय्याश हो लेते हैं
कारों में घूम कर
मखमल पर सो लेते है ।
मेरा धनियां

दिन भर की मेहनत के बाद भी
भूखा क्यों सो जाता है ?
धनराज से हो लेता है धनिया
और वो क्यों
एक साथ
आगे पीछे
दो-दो अलंकार पा लेते हैं ?

उनका कुत्ता
जिसे सूघ कर छोड़ देता है,
मेरा धनियां
उसी को हंस कर
क्यो खा लेता है ?
क्यों ? आखिर क्यों ?

क्यों ?
काटों में गुलाब,
गुलाब में काटे लगते है ।
यह क्या झूठ है ?
यदि नही, तो
प्रकृति दोहरी चाल—
क्यों चल लेती है ?
गुलाब पर गुलाब
कांटे पर कांटा
क्यों नही जड़ देती ?
उसकी सभी रचनाएं
समान हो लेती ।
मेरा धनराज हो जाता धनिया,
उनका धनराज
'श्री' और 'जी' द्वारा
संरक्षित हो जाता, तो—
मुझे दुःख न होता ।

लावा

यथार्थ की कोठरी में
समय की मुंह पट्टियों से बंधी
मेरी लेखनी,
असहाय हो
वयस्क होने से पहले ही
घुट कर रह गई।
महगाई के स्याहीसोखों ने
मेरी कलम की स्याही सोख ली।
समाज का कागज
पहले ही से काला हो चुका है,
मेरे नाम के भोंडे प्रतीकों की काली स्याही से।
पिन दर्द बन कर
मुझे ही चुभन देती है ;
रिश्तों के दबाव में आकर।
मेरी अंगुलिया,
मात्र रुमाल बन कर
जेब में पड़ी रहती हैं।

लावा भरा पड़ा है मेरे भीतर।
किसी को क्यूं भेंट करूं ?
जब प्रकृति ने इस हेतु,
मुझे ही चुना है।

भले ही किसी के शब्दो में
मुझे मेरा गांव
रास न आया हो।
परन्तु मैं जानता हूं;
मेरा साहित्य
भूत बन कर
मेरा आरोह कर चुका है।

मैं असहाय व चुप जरूर हूं
लेकिन
मैं भी हाथों में अंगुलियां,
मन में आकांक्षा रखता हूं।
एक दिन उगल दूंगा कागज पर
अंगुलियों के पोरों से,
दिल में भरा संवेदन
दर्द से घोकर !

मैं जानता हूं
मैं फटा हुआ ढ़ोल हूं
लेकिन
हूं तो ढोल ?
यह तो आप भी जानते है,
कभी मैं भी बजता था;
फिर बजूंगा एक बार मैं
अर्थ का मंढ़ना मंढ़वा कर।

मेरा आंगन

सड़क
दहलीज पर आ कर चली गई,
दहलीज में अटका रह गया
मेरा आंगन ।
सड़क शहर घूम आई ।
दिन की चका-चौंध में
परछाइयों को ले
आगे पीछे होता रहा
मेरा घर ।
परछाइयों को अंधेरे ;
अंधेरों को आंगन पी गया ।

सड़क
दहलीज पर आ कर चली गई,
दहलीज में अटका रह गया
मेरा आंगन ।

सड़क शहर घूम आई ।

बे-रोजगारी से
बा-रोज़गार हो गये है लोग ।
आरक्षण का भक्षण कर
सरकारी संरक्षण पा गये है लोग ।
लेकिन
आलपिनों में अटका रह् गया
मेरा आंगन ।
सड़क शहर घूम आई ।

झोंपड़ियों से उठ
निरीक्षण
सर्वेक्षण
बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा कर
सफेद कुर्तों की झोली में
मिट्टी को कुन्दन बना लाए हैं लोग
लेकिन
दो जून रोटी में अटका रह गया
मेरा आंगन ।
सड़क दहलीज पर आ कर चली गई
दहलीज में अटका रह गया
मेरा आंगन ।
सड़क शहर घूम आई ।

पूरा मुंह सिलवाया है

बहुत तपे है हम
तप कर
कुंदन तो न बने
पात बन गये ;
एक जात थे,
कई जात बन गये ।

हमने हाथों को
मिलाया नही—
उठाया है ;
इसीलिए
खंजर का स्पर्श
कहीं पास ही पाया है ।
लेकिन
बेगानों की—
दुश्मनी से बचे है ;

अपनों ही से काम चलाया है ।
भले ही सरकारी हाथ,
जेबों में पड़े है ;
पड़ोस ही में
एक नया
समानांतर
देश बनाया है ।

तब से अब तक
फालतू चीजों को ही बेचा है,
जुबान की तो औकात ही क्या थी,
आत्मा तक को नही बख्शा हमने ।

कानों को—
आहट के लिए
इन्कलाब के फ़ाटक पर छोड़,
पूरा मुह सिलवाया है हमने ।

स्मृतियां

कुम्हार के चाक सी
घूमती जिन्दगी,
स्मृतियों के घड़े
सजोती चली आ रही है।

मैं देखता हूं—
सुबह को कांधे पर लाद कर,
मजदूर दिन
साझ के घर छोड़ आता है
और सो जाता है,
गरीबी की रेखा के नीचे आ कर।
सुबह फिर उठा देती है उसे,
सुबह आकर।

मैंने देखा है—
धूप को

मजदूर की पीठ पर
श्रम बन कर नाचते ।
परछांइयों को
पीछे खींचता पारिश्रमिक,
उतारता है धूप को
मजदूर की पीठ से ।
पास ही कोनों में
छुप कर सो जाती है धूप,
गरीब की रेखा के नीचे आकर ।
सुबह फिर उठा देती है उसे,
सुबह आकर ।

मैंने देखा है—
भूख को
मशीन में उंगलियां देते
मजदूर के पेट में मरते ।
सांझ फिर जिलाती है
चने खिला कर उसे
दोपहर के बाद ।
मिल के पीछे
गन्दे क्वार्टरों में
सो जाती है भूख,
सांझ,
श्रम,
मजदूर के साथ,
गरीबी की रेखा के नीचे आकर ।
सुबह फिर उठा देती हे उसे,
सुबह आकर ।

सुबह · ··
मिल के भोपू के रोने से पहले,
सुबह फिर उठा देती है उसे,
सुबह आकर ।

दर्द

रोते अंधेरों को
धूओं का ढाढ़स देना
कितना अजीव सा लगता है
परन्तु
यह सच्चाई है
कि लोहे को लोहा काटता है।

एक दिन
भीतर उतर गया मैं
अपने ही दिल से पूछने,
हाल, बेहाल थे
भीतर कुछ न था
बस, अकेला था दिल।
जी चाहा—
ले चलूं बाहर उजालों में
मगर

भय ने मना कर दिया
वरना
देख लेता वह
कि दर्द उसके लिए
मैं नहीं
दुनिया संजोती है ;
मैं तो माध्यम हूं
बस,
भेंट करता हूं।

कविता सपनों की

वर्ण वर्ण संजोकर
गढ़ी थी मैंने
अपने सपनों की कविता ।
परन्तु
कितनी निर्दयता से किया पोस्टमार्टम
कथित विशेषज्ञों ने,
पंक्तियां
वाक्य
शब्द
बिखेर कर परखे गये ।
मुझे दुख न हुआ
दुःख तो तब हुआ
जब—
शब्दों का संधिविच्छेद कर
उन विशेषज्ञों ने
एक-एक वर्ण अलग कर
पुनः थमा दिए

मेरी हथेलियों में
फिर गढ़ने को एक कविता ।
उनको सौंपने के लिए
ताकि चलती रहे रुटीन पोस्टमार्टम की ।
उनको भी
मुझे भी,
मिलता रहे काम ।
परन्तु
काम के बदले अनाज नहीं,
मिलती है—
लम्बी चादर बेकारी की
ओढ़ कर सोने को !
समर्पण को
बस, टूटने को
बिखरने को ।

नया कैलेण्डर

एक अदने से व्यक्तित्व का
स्वाभिमानी आदमी,
बिना पूंछ के
सम्मान का अधिकारी
कदापि नहीं हो सकता ।
इसे यदि आप
मेरी भावुकता समझ
दो पल हंस लेते हैं,
तो मैं समझूंगा
किसी बड़े आदमी का—
मनोरंजन ही सही ।
वरना
दिल तो जलता है ।
दस द्वार होते हुए भी
कमबख्त,
धूआं तक नहीं छोड़ता
वरना

आपका विश्वास जुटा पाना,
कोई अतिशयोक्ति न होती ।

शाक उबल कर
पका होना ही माना जाता है,
जल जाना नही ।

दिल सीने के भीतर रख कर
उसने गलती की है ।
यदि यही सीने के ऊपर—
टांग दिया होता
तो कुर्ते के आवरण को हटाने में
शायद, अधिक समय न लगता ;
जले शाक का—
छिलका उतारने की आदत तो बचपन से है ;
दिल का जला आवरण
उतार कर दिखाने मे
मै शर्म न करता ।
यदि ऐसा करना उसके लिए—
सम्भव न था, तो कम से कम इसे
स्पंज ही बना देता ।
छुट्टी के दिन,
घर के किसी कोने में
एकान्त पा कर
दर्द निचोड कर,
पुन:
नये कैलेण्डर की तरह
टांग देता
अपने पंजराये सीने में
दिल को ।

एक सवाल

ख़ला में बैठकर
समीकरण
हल करने से
सड़क पर भीख मांगने वाले
अल्लादित्ता का
एक रोटी का सवाल
भला कैसे हल होगा ?
खोज सको
अपनी अंतरिक्ष यात्रा में इसका हल
तो हांक मार देना
तल से चिपकी
सरकंडिया झोपड़ी में
एक रोटी पर
आंखें फैला
दस परिजनों का
गुणा-भाग करती भजनी को
निश्चित करने ।

ऐसा क्यों

क्यों सजाए हो
सिंधुघाटी के उस एक मात्र
आलिंगनबद्ध जोड़े के कंकाल को
कंटीले तारों के बीच।
आओ, खींच दो
प्रत्येक शहर के चारों ओर
कंटीले तार
लम्बी
ऊंची दीवारें
क्यों कि, तुम्हें मिलेगा यहां
अंदर से सांकल चढ़े
प्रत्येक बन्द कमरे में
भूख की
बेहोशी की मौत मरा
आलिंगनबद्ध
हर एक नर-मादा का जोड़ा।

तुम उधर कतई नहीं देखोगे
मुझे पता है;
तुम्हें वर्तमान को भूल
भूत को ढोने
भविष्य को रोने की
आदत पड़ गई है।
तभी तो तुम्हें
आज विश्व मानचित्र पर
रोटी मांगते हाथ, कहां दिखते है ?
कहां दिखती है
हिरोसिमा
नागासाकी
भोपाल गैस त्रासदी ?

तुम्हे चिन्ता है
स्टारवार
रोबोट युग की।
और चिंता है।
सिंधु घाटी के अवशेषों की
समुद्र मे डूबी द्वारका
राम की अयोध्या
रावण की सोने की लंका की।

तुम्हे कहां चिता है
समय से कटते
इन चाम चढे
जिन्दा नर कंकालों की ?
तुम तो बस, लीन हो
अपने वर्तमान की
मुर्दा लाश को सजाने में।

संस्कृति का खून
तुम्हारे मुंह लग चुका है
चटखारे ले-ले कर
हाड तक चट कर सकते हो ।
लेकिन नही, हाड नहीं !
नर ककाल तो
विदेशी मुद्रा जुटाने का
साधन है तुम्हारा;
हाड भला क्यों चट करोगे ?

तुम स्वार्थ पूर्ति के लिए
ठोर तलाशते हो
व्यक्तिगत लाभार्थ
सूघते--चाटते हो
वरना उस पर
एक टाग उठा
मूत करने में
कहां चूकते हो ?

ज़िन्दगी

ज़िन्दगी क्या है ?
जब-जब भी सोचा
हर बार
मुंह लगता सा उतर पाया ।

मैंने पाया;
मां की गोद में
रोते बच्चे के
आगे पड़ी
दूध की
खाली बोतल है—ज़िन्दगी ।

रोजगार की तलाश में
रेल के नीचे
कटी पड़ी

युवा लाश की
भूखी मां का प्रलाप है—जिन्दगी ।

अस्पताल मे
दवा के अभाव में
बे-औलाद भीखू के लिय
मौत का अधिकार है—जिन्दगी ।

भ्रष्टाचार
मुनाफाखोरी
बे-ईमानी
नेता गिरी के लिए पुरस्कार
और अधिकारों की मांग के लिए
खांडे की धार है—जिन्दगी ।

सब कुछ
देखती
सुनती
जमाने के दर्द
अपने में
संजोती
सहती
लेकिन फिर भी
भाव चेहरे पर रखती
आज का
ताज़ा अखबार है—जिन्दगी ।

धर्मनिर्पेक्ष लोकतंत्र

स्वघोषित उद्देश्यों को
प्रतीक मान
मन चाहे कपड़ों से निर्मित ध्वज
दूर आसमान की ऊंचाईयों में—
फहराने भर से
लोकतंत्र की जड़ें
भला कैसे हरी रहेंगी ?

तुम शायद नहीं जानते
भरे बादल को
पेट का प्रतीक मान लेने से
यह पंच भूता नही मानता
पानी के समय पानी
रोटी के समय रोटी
साक्षात मांगता है ।

शाति का प्रतीक
टुकड़ा भर सफेद कपड़ा
बरसों बाद भी
मुट्ठी भर देश को
चैन-ओ-अमन
कहा दे पाया है ?

हरित क्रांति का प्रतीक
तुम्हारा हरा रंग
आयात से चलकर
निर्यात तक
कहा पहुंच पाया है ?
.... ' और अड़तीस साल बाद भी
तुम्हारी राष्ट्रीयता को
निष्ठा
और
बहादुरी के रंग मे
कहां रंग पाया है ?
हां, यह जरुर है
तुम्हारा केसरिया
रंग लाया है
तभी तो
हर देशवासी
बे-ईमानी
भ्रष्टाचार
भुखमरी
गरीबी
बे-रोजगारी .
और
देशद्रोह के रंग में
आकंठ रंग गया है
और इनके समक्ष

बलिदान के लिए
हिम्मत के साथ
डटा हुआ है।

चौबीस तीलियों वाला—
धर्म-चक्र आज भी
साम्प्रदायिकता की गाड़ी
उत्तर से दक्षिण
पूर्व से पश्चिम तक
कितनी बे-शर्मी से ढो रहा है,
और तुम्हारा लोकतंत्र
तिरंगा ओढ़
धर्म निर्पेक्षता की
झूठी
गहरी
नींद सो रहा है।

सा'ब
आजादी की धूप में,
अधिकारों की भूख में,
हजारों पेट की क्षुधा मिटा
दिन भर हजारों मन ढो कर
तीन जनों के लिए
तीन रोटी जुटाता हूं ।
इसी बीच
यदि अपनी पीठ को
धनुपाकार में पाता हूं,
तो मखमली गद्दे कहां से जुटाऊँ ?
बस, चमेली के बल,
पीठ के बल निकाल लेता हूं ।
क्या करूं ?
क्या दोष है मेरा ? ?
चम्पेली और सीतू
कम्बख्त मूर्ख है,
जो भूखी मां के पेट को छोड़ कर
इस भूखी दुनिया में आ गये ।
भूखों मरेंगे साले !
ये भी भोगेंगे,
कोई और भी भोगेगा
इनके बाद ।

चमेली भी बोली थी ;
सा'ब,
दिन भर
खाली हंडिया में—
कड़छी हिलाते-हिलाते
हाथ तो ऐंठ ही जाता है !
भूखे बच्चों का रोना—

कुछ तो बोली थी
चमेली की पड़ौसिन भुनिया।
सा'ब !
मैंने परिवार नियोजित करने की सोच
कॉपर-टी लगवाई थी।
ये विजिया कमबख्त
जन्म से पहले की भूखी थी
गर्भाशय में घुसते ही,
कॉपर-टी खा गई।
तभी तो—
कॉपर-टी सी बाहर आ गई
.....ना मुराद.......अभी भी भूखी है।
गली की आवारा कुतिया के—
स्तन काटती है।
सामने वाले सा'ब की कोठी पर,
जूठे बर्तन चाटती है
और
डांट खा कर,
दोपहर उनके ही फर्श पर काट लेती है।
कमबख्त,
रात भर मेरे खाली पेट पर,
लातें मार कर
बुढाये नन्हे हाथों से
मेरे स्तन ढूंढ़ती है।
आकारों की अनुपस्थिति पा,
मुझे छोड़
सुबह,
कुतिया के सीने से लग कर रोती है।
मेरे हिस्से की रोटी से,
एक रोटी ले,
उस कुतिया को देती है।
कमबख्त, उसकी आंखों में

प्यार,
दुलार,
ममता
और
मेरा अपन तलाशती है ।
मुझे दुत्कार,
उसे पुचकारती है ।

काश
मुझे रोटी नहीं
मेरी ममता को
ममत्व का अधिकार दे दो !
रिक्त आंखों को दे दो
किन्हीं ऐसे क्षणों के लिए
वात्सल्य के दो आंसू !!

ओम पुरोहित "कागद"

- जन्म– 5 जुलाई, 1957, केसरीसिंहपुर
  जिला– श्रीगंगानगर (राज)
- शिक्षा– स्नातकोत्तर (इतिहास)
  विशारद (राजस्थानी)
- साहित्यिक उपलब्धि– सर्वप्रथम 1971 मे दैनिक पंजाब केसरी जालधर मे कविता प्रकाशित। तब से अब तक देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे कविताए, कहानियां, व्यग्य, रिपोर्ताज, सस्मरण एवम् विचारोत्तेजक निबन्ध हिन्दी व राजस्थानी भाषा मे समान रूप से प्रकाशित एव आकाशवाणी से प्रसारित।
- मरुधरा, पडाव, कारवा, प्रयासिका, साहित्य प्रसव, मरुगगा, माणक, कदम, लहर व प्रयास आदि मे रचनाएं संकलित। मरुधरा साहित्य परिषद्, हनुमानगढ सगम के बहुचर्चित कविता एवम् लघुकथा सकलन 'मरुधरा' का सम्पादन। साप्ताहिक शाश्वत सत्य (श्री गगानगर) का दो वर्ष तक साहित्य सम्पादन। 1978 से 1985 के मध्य तक 'राजस्थान पत्रिका' (जयपुर) के लिए सवाद सकलन।
- अप्रकाशित कृतिया– कागद, पचमेळ (राजस्थानी कविता) जिजीविषा (हिन्दी कहानी सग्रह) व एक उपन्यास।
- "नौवें दशक की श्रेष्ठ कहानिया" शीघ्र प्रकाश्य सम्पादित कहानी संग्रह।
- संप्रति– शिक्षा विभाग, राजस्थान मे अध्यापन।
- स्थाई पता– 24-दुर्गा कॉलोनी, हनुमानगढ़ सगम
  पिन-335512 (राजस्थान)